हस्तशिल्प और कला इन दोनों के बीच बहुत महीन विभाजन रेखा है और यह दोनों ही एक-दूसरे में रूपांतरित हो सकते हैं। ठीक वैसे ही जैसे पानी और भाप। एक निश्चित तापमान के बाद पानी स्वतः ही भाप में परिवर्तित हो जाता है और उस निश्चित तापमान से नीचे आते ही भाप पुनः पानी में बदल जाती है। अनेक हस्तशिल्पी अपने हस्तशिल्प कार्य को अपनी कल्पनाशीलता और शिल्प कौशल के संतुलित संयोजन से, उसे कलात्मकता के स्तर तक ले जाते हैं। तब उनका बनाया वह हस्तशिल्प एक कलाकृति के रूप में स्वीकार्य हो जाता है। फिर वह मात्र हस्तशिल्प न रहकर एक कलात्मक कलाकृति कहलाता है, परंतु यह अपवाद स्वरूप ही देखने में आता है, सामान्य हस्तशिल्प इस श्रेणी तक कभी नहीं पहुंच पाते।

मुश्ताक खान
लेखक, नई दिल्ली

समझना होगा कला और हस्तशिल्प के अंतर को

अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण का महत्व

हस्तशिल्प के कई कलाकार भी अपनी कलाकृति को इतना भावहीन एवं यांत्रिक बना देते हैं कि उन्हें कला की श्रेणी में रखना कठिन हो जाता है। हस्तशिल्प की मान्यता प्राप्त परिभाषा के अनुसार, पावर द्वारा चालित मशीनों के कम से कम उपयोग से मुख्यतः हाथों द्वारा बनाई गई कोई भी सुंदर, उपयोगी एवं टिकाऊ वास्तु हस्तशिल्प कहलाती है। इस परिभाषा के अनुसार हस्तशिल्प में उपयोग एवं टिकाऊ पक्ष उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि हस्तशिल्प का सुदर्शन होना। हस्त शिल्प का यही पक्ष उसे कला के क्षेत्र से बाहर करता है, क्योंकि कला में उपयोग एवं टिकाऊ होने की कोई शर्त नहीं है। कला की अनेक परिभाषाओं में उसे आत्म अभिव्यक्ति से जोड़ा गया है, वहां दृष्टि, संप्रेषण और सृजन की बात की गई है। हस्तशिल्प और कला की परिभाषाओं में यह अंतर ही उनके वास्तविक चरित्र को उजागर करता है। हस्तशिल्प में सौंदर्य के साथ उपयोगिता पक्ष का बाहुल्य है, जबकि कला में सौंदर्य सृजन के साथ अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण महत्व रखता है।

हस्तशिल्प में अनुशासन और दक्षता

कला के सृजन का कोई निश्चित नियम या पूर्वनिर्धारित फार्मूला नहीं होता। कला को जबरन गढ़ा नहीं जा सकता, वह तो स्वयं अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज लेती है। कलाकार केवल माध्यम होता है, सृजन की प्रक्रिया उसके भीतर स्वतः घटित होती है। इसके विपरीत हस्तशिल्प एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया पर आधारित होता है, जहां निर्माण के स्पष्ट नियम, तकनीक और तयशुदा ढांचे मौजूद होते हैं। हस्तशिल्प में यह लगभग निश्चित रहता है कि अंत में उत्पाद कैसा होगा, जबकि कला में अंतिम परिणाम सृजन की यात्रा पूरी होने के बाद ही सामने आता है। कला की यही अनिश्चितता उसे रोमांचक और जीवंत बनाती है। यह अनपेक्षित मोड़, आकस्मिक अनुभूतियां और भावनात्मक गहराई ही कला को विशिष्ट बनाती हैं। कला-सृजन के लिए उन्मुक्त चिंतन, कल्पनाशीलता और आत्म-विस्मृति अत्यंत आवश्यक होती है। जब कलाकार अपने अहं और चेतन नियंत्रण से मुक्त होकर सृजन में डूब जाता है, तभी कला का वास्तविक रूप प्रकट होता है।

हस्तशिल्प में अनुशासन, हस्तकौशल और दक्षता का विशेष महत्व होता है। वहां अभ्यास, परंपरा और तकनीकी निपुणता ही प्रमुख आधार हैं। किंतु हस्तशिल्प में भावनाओं का गहन संप्रेषण, अंतर्मन की अभिव्यक्ति या किसी अनदेखे, अमूर्त संसार की रचना का उद्देश्य नहीं होता। यही तत्व कला को हस्तशिल्प से अलग और उच्चतर आयाम प्रदान करते हैं। कला केवल रूप या संरचना तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह संवेदना, अनुभूति और विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है। उसमें भाव, कल्पना और स्वतंत्रता का समन्वय होता है, जो दर्शक या श्रोता के भीतर भी एक नई चेतना का संचार करता है। इस प्रकार कला और हस्तशिल्प के बीच मूल अंतर तकनीक का नहीं, बल्कि भाव, स्वतंत्रता और सृजनात्मक अनिश्चितता का है और यही कला की आत्मा है।

अनोखी परंपरा

कोरबा : जहां बेटी को दहेज में दिए जाते हैं जहरीले सांप

शादी-विवाह में दहेज की प्रथा भारतीय समाज की एक कड़वी सच्चाई रही है। आमतौर पर दुल्हन के पिता अपनी बेटी को दहेज के रूप में महंगे तोहफे, कीमती सामान, सोने-चांदी के गहने और नकदी देते हैं। कई परिवार तो इस सामाजिक दबाव के कारण कर्ज तक ले लेते हैं, लेकिन क्या आपने कभी सुना है कि किसी शादी में पिता अपनी बेटी को दहेज में गहने या नकदी नहीं, बल्कि जहरीले सांप देता हो? यह बात सुनकर भले ही अचरज हो, लेकिन यह परंपरा वास्तव में भारत के एक हिस्से में आज भी जीवित है।

दहेज की यह अनोखी परंपरा छत्तीसगढ़ के कोरबा जिले में पाई जाती है। जिला मुख्यालय से लगभग 30 किलोमीटर दूर स्थित मुकुंदपुर गांव में रहने वाला संवरा जनजाति समुदाय इस परंपरा का पालन करता है। इस समुदाय में बेटी की शादी के समय दूल्हे को दहेज के रूप में 21 जहरीले सांप दिए जाते हैं। यदि यह शर्त पूरी नहीं होती, तो विवाह संपन्न नहीं माना जाता।

यह परंपरा कोई हाल की नहीं, बल्कि सदियों से चली आ रही है। दरअसल संवरा जनजाति के लोगों का पारंपरिक और पुश्तैनी पेशा जहरीले सांप पकड़ना है। ये लोग सांपों को पकड़कर उन्हें दिखाने का काम करते हैं और इसके बदले लोगों से पैसे लेते हैं। इसी से उनके परिवार का भरण-पोषण होता है। समुदाय की मान्यता है कि बेटी के पिता द्वारा दामाद को सांप देना, दरअसल उसकी आजीविका सुनिश्चित करना है। यह दहेज लालच या प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि बेटी के भविष्य की सुरक्षा से जुड़ा हुआ है। माना जाता है कि इन सांपों के माध्यम से दामाद कमाई कर सकेगा, जिससे उसकी पत्नी यानी बेटी को जीवनभर खाने-पीने या गुजर-बसर की कोई कमी न हो। आज भले ही आधुनिक समाज दहेज प्रथा को सामाजिक बुराई मानता हो, लेकिन संवरा जनजाति की यह परंपरा हमें यह सोचने पर मजबूर करती है कि हर परंपरा का अर्थ एक जैसा नहीं होता। यह प्रथा दिखाती है कि कुछ समुदायों में दहेज भी सामाजिक सुरक्षा और आजीविका से जुड़ा हुआ एक सांस्कृतिक प्रतीक बन चुका है।

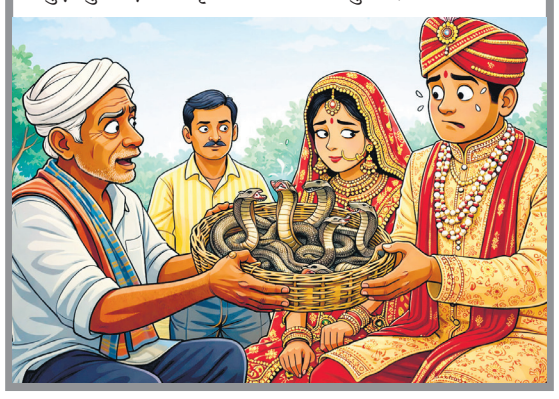

आर्ट गैलरी

समकालीन कला के विशिष्ट चित्रकार

जोगेन चौधरी के चित्रों में ग्रामीण जीवन और कोलकाता के विभिन्न पक्षों का चित्र दिखाई देता है। उनकी निजी चित्र शैली में क्रमशः परिवर्तन होता हुआ दिखाई देता है। बाद में उनकी चित्र शैली में मछली, तितली, सांप आदि को व्यंजक रूप में प्रस्तुत किया गया। वनस्पतियों के चित्रण में कहीं-कहीं खिला हुआ दिखाया गया, तो कहीं वनस्पतियों को तरोताजा दिखाया गया और कहीं उन्हें मुरझाया हुआ भी दिखाया गया है। जोगेन चौधरी ने गणेश जी के अनेक चित्र बनाए हैं। इन्होंने गणेश जी को दुबला-पतला और व्यंग्यात्मक पद्धति में दिखाया गया है। जहां तक नारी आकृतियों की बात है, तो जोगेन चौधरी ने नारी को सुंदर मांसल दिखाने के साथ-साथ नारी आकृति को दुखी रूप में भी चित्रित किया है। क्योंकि जोगेन चौधरी का जीवन प्रकृति के साथ घुला-मिला था, इसलिए इन्होंने अपने चित्रों में पुरुषों के चित्रों को कहीं-कहीं पत्तों की तरह, लता की भांति दिखाया और अंगों के उभार को फूलों की तरह दर्शाया। इनके चित्रों में चित्रित आकृतियों की अंकन शैली से व्यंग्य-विनोद के भाव उभरते हैं। स्थूल-स्थूल आकारों और तुनक मिजाज भंगिमाओं को भोले लगते चेहरे, नेताओं, व्यापारियों को देखकर आज के परिवेश और आज की यथार्थता दिखाई देती है। जोगेन चौधरी उन महत्वपूर्ण चित्रकारों में हैं, जिन्होंने समकालीन भारतीय कला में अपनी सशक्त अभिव्यक्ति से कला और समाज के रिश्ते को अच्छी तरह परिभाषित किया है।

जोगेन चौधरी के बारे में

जोगेन चौधरी का जन्म 19 फरवरी 1939 को पूर्वी बंगाल (आज का बांग्लादेश) के फरीदपुर कस्बे में हुआ था। इनके पिता प्रमथ नाथ चौधरी ब्राह्मण जमींदार थे। इनके पिता ने गांव में होने वाले नाटकों में कई पौराणिक आख्यानों को दीवारों में पेंट किया था और बहुत से हिंदू आइकॉन के चित्र भी बनाए थे। जोगेन चौधरी की माता अल्पना ड्राइंग में दक्ष थीं। 1947 तक जोगेन चौधरी गांव के परिवेश में ही रहे। 1947 में भारत विभाजन के ठीक पहले जोगेन और उनके पिता कोलकाता शिफ्ट हो गए और 1948 के बाद पूरा परिवार कोलकाता में आकर बस गया। 1951 तक उनका पूरा परिवार अपने चाचा के पुलिस डिपार्टमेंट के क्वार्टर में ही रहता रहा। इसी मकान में जोगेन ने दीवारों पर अपनी पहली पेंटिंग बनाई। 1951 में जोगेन चौधरी का परिवार शहीद नगर कॉलोनी, ढाकुरिया, कोलकाता के दूसरे घर में शिफ्ट हो गया।

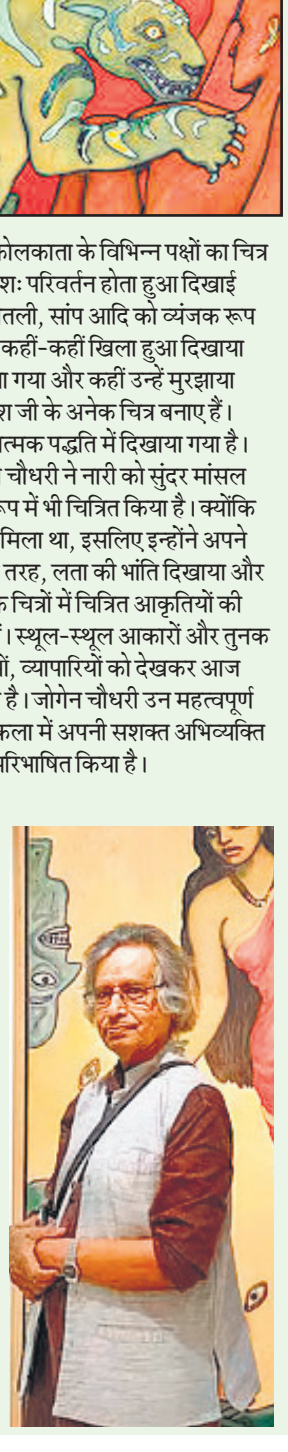

लोकायन

लावणी: महाराष्ट्र की जीवंत लोक कला

लावणी अपने जोरदार लयबद्ध अंदाज के कारण भारत के सबसे लोकप्रिय लोक नृत्यों में से एक है। यह महाराष्ट्र में विशेष रूप से प्रसिद्ध है और इसमें संगीत, गीत और नृत्य का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। लावणी की पहचान इसकी तेज-तर्रार ढोलक की ताल और नर्तकियों के नटखट, आकर्षक हाव-भाव से होती है। यह नृत्य दक्षिणी मध्य प्रदेश में भी प्रचलित है और मराठी लोक रंगमंच के विकास में इसका बड़ा योगदान माना जाता है। लावणी को एक रोमांटिक गीत के रूप में भी देखा जाता है, जिसमें एक महिला प्रेमी के आने का इंतजार करती है और अपनी भावनाओं को गीत के माध्यम से व्यक्त करती है।

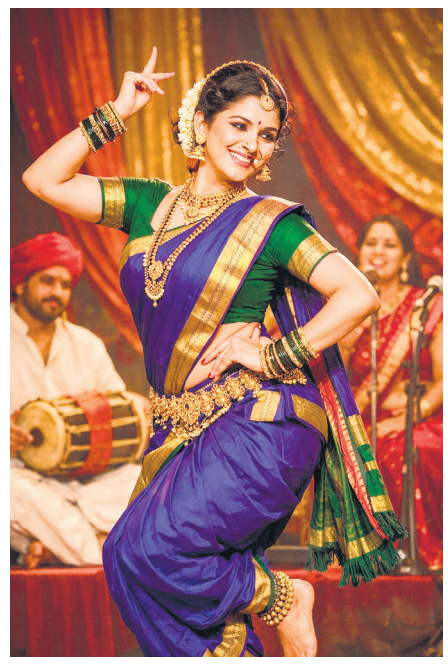

नृत्य का इतिहास

लावणी शब्द का मूल "लावण्य" शब्द से माना जाता है, जिसका अर्थ है सौंदर्य। इसमें नारी की सुंदरता, शक्ति और भावनात्मक अभिव्यक्ति का सुंदर मेल दिखाई देता है। हालांकि लावणी की उत्पत्ति की सटीक तिथि स्पष्ट नहीं है, लेकिन माना जाता है कि यह एक मनोरंजक कला के रूप में विकसित हुई थी और युद्धग्रस्त समय में सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता था। 18 वीं और 19 वीं शताब्दी में महाराष्ट्र युद्धों से जूझ रहा था और उस समय लावणी का महत्व बढ़ गया। यह नृत्य थके हुए सैनिकों के मनोरंजन का प्रमुख स्रोत बन गया। पेशवा शासन के दौरान लावणी को शाही संरक्षण मिला और यह और भी अधिक लोकप्रिय हुई। मराठी कवि जैसे माननीय बाला, रामजोशी, प्रभाकर आदि ने इसे नई ऊंचाइयों पर पहुंचाया और इस कला को साहित्यिक तथा सांस्कृतिक रूप से समृद्ध किया।

प्रदर्शन

लावणी का प्रदर्शन एक संगीत-संवाद जैसा होता है, जिसमें गीत, नृत्य, ताल और परंपरा का संयोजन होता है। ढोलक की तेज धुनों के साथ नर्तकियां अपने लयबद्ध कदमों से दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देती हैं। लावणी के गीतों में समाज, धर्म, राजनीति और रोमांस जैसे विषयों को सहजता से प्रस्तुत किया जाता है। महाराष्ट्र की कई जातियां, जैसे महार, कोल्हाती, कुंभार और मतंग, लावणी के प्रमुख कलाकार माने जाते हैं। लावणी मुख्यतः दो प्रकार की होती है- फडाची लावणी और बैठकी लावणी। फडाची लावणी बड़े मंच पर नाटकीय रूप में प्रस्तुत की जाती है, जबकि बैठकी लावणी निजी समारोहों में, अधिक शास्त्रीय शैली में गाई जाती है।

नर्तकियों की वेशभूषा

लावणी की नर्तकियां 9 गज की नौवारी साड़ी पहनती हैं और अपने बालों को सख्ती से बांधकर रखती हैं। वे भारी गहनों जैसे हार, झुमके, पायल, कमरपट्टा, चूड़ियां आदि से सजती हैं। लावणी में बिंदी का भी विशेष महत्व है, जो नृत्य की सौंदर्यात्मकता को और बढ़ाती है।

हिंदी भाषा में कला विषयक लेखन: चुनौतियां और संभावनाएं

हिंदी भाषा में कला विषयक लेखन आज भी एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं बन पाया है। जबकि हिंदी भारत की सबसे व्यापक रूप से बोली और समझी जाने वाली भाषा है, फिर भी कला विमर्श के क्षेत्र में उसका स्थान अपेक्षाकृत सीमित दिखाई देता है। इसके पीछे ऐतिहासिक, संस्थागत, सामाजिक और बाजार से जुड़ी अनेक जटिल वजहें हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है।

इस मामले में एक बड़ी चुनौती भाषा और शब्दावली से जुड़ी है। आधुनिक कला विमर्श में जिन अवधारणाओं-जैसे मॉडर्निज्म, कन्सेप्चुअल आर्ट, इंस्टीच्युश्नल क्रिटिक, एस्थेटिक, क्युरोटोरियल प्रैक्टिस का व्यापक उपयोग होता है, उनके लिए हिंदी में या तो सर्वमान्य शब्द नहीं हैं या जो अनुवाद उपलब्ध हैं, वे प्रचलन में नहीं आ सके। परिणामस्वरूप हिंदी में कला लेखन करने वाला लेखक या तो अंग्रेजी शब्दों का सहारा लेने को विवश होता है या फिर अत्यधिक व्याख्यात्मक भाषा अपनाता है, जिससे लेखन का प्रवाह बाधित होता है।

ऐसे में एक सुझाव तो यही है कि इन शब्दों को ज्यों का त्यों प्रयोग किया जाए। क्योंकि इस तरह के शब्द अब सहजग्राह्य हो चुके हैं और इसका धड़ल्ले से प्रयोग कला जगत में आम बातचीत में होता है। दूसरी बड़ी चुनौती कला संस्थानों और अकादमिक ढांचे से जुड़ी है। भारत में कला शिक्षा, कला इतिहास और कला आलोचना से संबंधित अधिकांश पाठ्यक्रम, शोध और प्रकाशन अंग्रेजी में केंद्रित रहे हैं। ललित कला अकादमियां, विश्वविद्यालय, संग्रहालय और गैलरियां भी लंबे समय तक अंग्रेजी को ही 'गंभीर विमर्श' की भाषा मानती रही हैं। इस संस्थागत झुकाव का सीधा प्रभाव हिंदी लेखन की संख्या, गुणवत्ता और दृश्यता पर पड़ा।

सुमन कुमार सिंह
कलाकार/कला लेखक

तीसरा पहलू कला बाजार से जुड़ा है। यह सच है कि भारतीय कला बाजार पर आज भी एक अभिजात्य वर्ग का प्रभुत्व है, जो अंग्रेजी को अपनी बौद्धिक और सामाजिक पहचान से जोड़कर देखता है। चूंकि अधिकांश कला संग्राहक, क्यूरेटर और गैलरी संचालक इसी वर्ग से आते हैं, इसलिए प्रदर्शनी कैटलॉग, प्रेस रिलीज और आलोचनात्मक लेखन में अंग्रेजी को प्राथमिकता दी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि हिंदी पट्टी के कलाकार भी अपनी प्रस्तुति में अंग्रेजी को अनिवार्य मान लेते हैं, चाहे उनका सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभव हिंदी का ही क्यों न हो। हालांकि इस निराशाजनक परिदृश्य के बीच कुछ सकारात्मक बदलाव भी स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे हैं। पिछले एक-दो दशकों में हिंदी में कला विषयक पुस्तकों की संख्या बढ़ी है, चाहे वे कला इतिहास, लोक एवं आदिवासी कला, आधुनिक भारतीय कला या समकालीन विमर्श पर आधारित हों। इसके साथ ही आलेखन डॉट इन जैसी वेबसाइटों और अन्य डिजिटल मंचों ने हिंदी कला लेखन को एक नया विस्तार दिया है। ये मंच न केवल लेखकों को अभिव्यक्ति का अवसर दे रहे हैं, बल्कि एक ऐसे पाठक वर्ग का निर्माण भी कर रहे हैं, जो कला को अपनी भाषा में समझना चाहता है। डिजिटल माध्यमों की भूमिका यहां विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है। सोशल मीडिया, ऑनलाइन पत्रिकाएं और ब्लॉग्स ने उस दूरी को कुछ हद तक पाटा है, जो पहले कला और आम हिंदी पाठक के बीच थी।

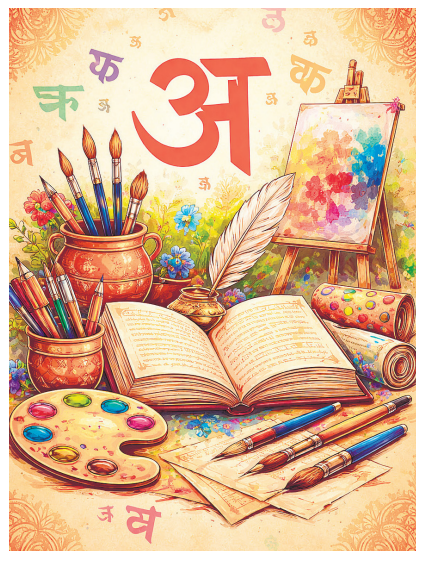

आज युवा लेखक, कलाकार और समीक्षक बिना किसी बड़े संस्थागत समर्थन के भी हिंदी में सार्थक कला विमर्श खड़ा करने की कोशिश कर रहे हैं, किंतु इन सबके बावजूद आवश्यकता इस बात की भी है कि हिंदी के समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में नियमित रूप से कला विषयक लेख, समीक्षा, परिचर्चा और साक्षात्कार का प्रकाशन होता रहे।

अंततः यह कहा जा सकता है कि हिंदी में कला विषयक लेखन की चुनौती केवल भाषा की नहीं, बल्कि दृष्टि और संरचना की भी है। जब तक कला विमर्श को अभिजात्य दायरे से बाहर निकालकर व्यापक सांस्कृतिक संवाद का हिस्सा नहीं बनाया जाएगा, तब तक हिंदी को उसका वाजिब स्थान नहीं मिल पाएगा। हाल के प्रयास यह संकेत देते हैं कि हिंदी कला लेखन धीरे-धीरे अपनी जमीन तलाश रहा है और यही भविष्य के लिए सबसे आशाजनक संकेत है।